

बोले बोले अबोले

केदारनाथ अग्रवाल



बोले बोल अबोल

केदारनाथ अग्रवाल



साहित्य भंडार
इलाहाबाद 211 003

I S B N : 978-81-7779-178-8

*
प्रकाशक
साहित्य भंडार
50, चाहचन्द, इलाहाबाद-3
दूरभाष : 2400787, 2402072

*
लेखक
केदारनाथ अग्रवाल

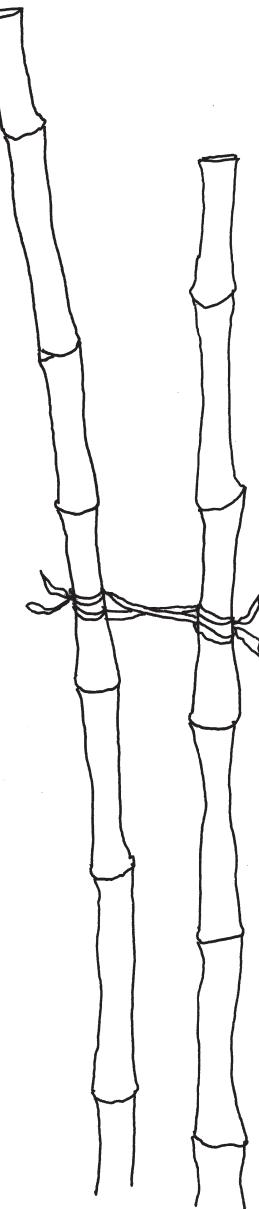
*
स्वत्वाधिकारिणी
ज्योति अग्रवाल

*
संस्करण
साहित्य भंडार का
प्रथम संस्करण : 2009

*
आवरण एवं पृष्ठ संयोजन
आर० एस० अग्रवाल

*
अक्षर-संयोजन
प्रयागराज कम्प्यूटर्स
56/13, मोतीलाल नेहरू रोड,
इलाहाबाद-2

*
मुद्रक
सुलेख मुद्रणालय
148, विवेकानन्द मार्ग,
इलाहाबाद-3



मूल्य : 125.00 रुपये मात्र

बोले बोल अबोल



प्रकाशकीय

इस संकलन का प्रकाशन 'साहित्य भंडार' के प्रथम संस्करण के रूप में सम्पन्न हो रहा है। केदारजी के उपन्यास 'पतिया' को छोड़कर, उनके शेष समस्त लेखन को प्रकाशित करने का गौरव भी 'साहित्य भंडार' को प्राप्त है। केदारनाथ अग्रवाल रचनावली (सं० डॉ० अशोक तिपाठी) का प्रकाशन भी 'साहित्य भंडार' कर रहा है।

एक तरह से केदार-साहित्य का प्रकाशक होने का जो गौरव 'साहित्य-भंडार' को मिल रहा है उसका श्रेय केदार-साहित्य के संकलन-संपादक डॉ० अशोक तिपाठी को जाता है उसके लिए 'साहित्य-भंडार' उनका आभारी है। यह गौरव हमें कभी नहीं मिलता यदि केदार जी के सुपुत्र श्री अशोक कुमार अग्रवाल और पुत्रवधू श्रीमती ज्योति अग्रवाल ने सम्पूर्ण केदार-साहित्य के प्रकाशन का स्वत्वाधिकार हमें नहीं दिया होता। हम उनके कृतज्ञ हैं।

भाई आर. एस. अग्रवाल ने इस संकलन को कलात्मक सज्जा प्रदान किया इसके लिए उनका आभार।

सतीशचन्द्र अग्रवाल
विभोर अग्रवाल

2009

६५२३८४२८०५

हिन्दी-साहित्य और काव्य के
प्रेमी
न्यायमूर्ति श्री प्रेमशंकर गुप्त
को
सादर समर्पित
यह काव्य-संकलन
'बोले बोल अबोल'

6 / બોલે બોલ અબોલ

भूमिका

इसी संकलन की एक कविता की प्रथम पंक्ति ही इसके नाम का कारण बनी। यह कविता 'स्टार-बार' से सम्बन्धित है।

एक तो प्राकृतिक सृष्टि है। वह, आदमी के अस्तित्व में आने के, बहुत पहले से चली आ रही है। उसके अपने प्राकृतिक नियम हैं, जिनके कारण उसमें युगों-युगों से परिवर्तन होते रहते हैं और नये पेड़-पौधे, नयी वनस्पतियाँ, नये पशु-पक्षी तथा अन्डज, स्वेदज और उद्भिज उत्पत्तियाँ होती रहती हैं। आदमी भी, इसी विकास-क्रम में, अस्तित्व में आया और वह भी इसी प्रकृति के परिवेश में जीने लगा।

आज जो आदमी का स्वरूप है, वह वैसा ही नहीं है, जैसा आदिकाल में था। आदमी को, प्रारम्भ में, पशुओं का जीवन जीना पड़ा। हजारों वर्ष के संघर्ष के बाद, वह भूमि से जुड़ा और अन्न उपजाने लगा। पहले, थोड़े लोग थे, लेकिन जैसे-जैसे और लोग पैदा होते गये, तैसे-तैसे वह अपने को सामूहिक जीवन में ढालने लगा और अधिक उपजाऊ और अच्छी भूमि के लिए अपने पहले के स्थानों से अन्य स्थानों को अपने कब्जे में लाने लगा।

वह समूह में रहता और समूह में काम करता। अब तक वह परिवार नहीं बना सका था। उत्तरोत्तर वह वहाँ तक पहुँचा, जहाँ वह कुटुम्ब, कबीले बनाकर जीवन-यापन करने लगा। भिन्न-भिन्न प्रकार के औजार बनाने लगा और धनुष-बाण का भी प्रयोग करने लगा। वह आखेटक भी बना और पशु-पक्षियों को मारकर खाने लगा और उनसे अपनी सुरक्षा भी करने लगा।

शुरू में वह संकेतों से काम लेता। बाद को, शब्दों के उच्चारण द्वारा, एक दूसरे से अपनी बात कह सकने का अभ्यस्त होने लगा। पहले उसका शब्द-ज्ञान बहुत सीमित था। उसके पास थोड़े से ही काम-चलाऊ शब्द रहे, जिन्हें वह परिवार या कुटुम्ब या कबीले के सदस्यों से खेती-बाड़ी और औजारों के बारे में या प्रकृति के प्रकोप से आतंकित होने पर प्रयुक्त करता रहा। इस तरह वह अपनी नई मानसिकता बनाते हुए उसकी अभिव्यक्ति करने लगा, प्रकृति की महाशक्ति को प्रसन्न करने के लिए अपनी पूजा, उपासना तथा आराधना

के समय विनय के विनीत वाक्यों एवं पदों का प्रयोग करने लगा। दीर्घकाल तक वह क्रम चलता रहा।

फिर ऐसा भी समय आया, जब आदमी ने गण बनाये और फिर उनमें रहकर अपनी सामाजिकता विकसित करने लगा। एक नहीं, ऐसे कई गणों की स्थापना हुई। फिर गणों में संघर्ष होने लगा और हार-जीत के युद्ध होने लगे। यह सब होता रहा। अतीत में, आदमी देशी और विदेशी आक्रमणों के दुःख झेलता हुआ, सामंती व्यवस्था तक पहुँचा। सामंतों में भी संघर्ष होता, एक हारता एक जीतता। जीतने वाला पक्ष हारने वाले पक्ष के आदमियों को बन्दी बनाता।

व्यापार भी विकसित होता रहा। बाजारें बनती रहीं। दुर्गम और कठिन मार्गों से होकर यात्राएँ होती रहीं। राजे-महाराजे हुए। उनके अपने राज दरबार बने। मंत्रीगण, पुरोहित और सलाहकार बनाए गए। सेनाएँ कायम की गयीं। फिर जब विदेशी आक्रमण हुए तब तुर्कों और मुगलों के शासनकाल में आंतरिक व्यवस्था टूटने लगी। उसके स्थान पर, शासन के अनुरूप, नयी व्यवस्था का निर्माण होने लगा। धर्म-कर्म-शिक्षा और सांस्कृतिक कार्यक्रमों के रूप भी यथानुरूप बदलने लगे। लेकिन मुगलों के जमाने तक देश की संपदा देश में ही रही और भूमि तथा व्यवसाय भी जनता के पास रहे।

अंग्रेजों के आने के बाद से ऐसा हुआ कि यहाँ का व्यापार चौपट हुआ और कारीगर तथा कर्मी लोग आर्थिक विषमता के शिकार हुए। देश की उपज विदेश जाने लगी और वहीं से माल बनकर, देश में आने लगा। देश का शोषण होने लगा और पूरा भारत दासता से जकड़ गया।

कांग्रेस की स्थापना हुई। क्रमशः राजनीतिक सरगर्मी बढ़ने लगी। शासक और शासित के बीच सम्बन्ध क्षीण होने लगे और जनता मुक्तिकामी होकर अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष करने लगी। देश स्वतंत्र हुआ। लेकिन, इतिहास साक्षी है कि अंग्रेजों से भारत को जो स्वाधीनता मिली, उसका प्रशासनिक स्वरूप लगभग वैसा ही बना रहा, जैसा कि अंग्रेजों के जमाने में था।

इन्हीं परिस्थितियों में, देश के अन्दर साहित्य काव्य और कला का सृजन होता रहा, वह भी शासकों की अधिरुचियों के अनुरूप, उन्हीं की संतुष्टि के लिए ही। समाज वर्ग-विभाजित बना रहा। शिक्षा-प्रसार नहीं के बराबर था। जनता के कवि और कलाकार शासकों से सीधे टक्कर लेने वाला काव्य और साहित्य नहीं लिख सके, बल्कि उन्होंने दूसरा रास्ता अपनाया। सगुण और निर्गुण कवि, अपनी रचनाओं के द्वारा, जनता के दूटे हुए मनोबल को

लौकिक से अलौकिक आराध्यदेव की ओर मोड़कर, राजनीति से हट कर जीवन जीते हुए, अपने को परमसत्ता में समर्पित किए रहे।

सन् 1857 में क्रांति की शुरुआत हुई। वह भी महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए की गयी। पर दुर्भाग्य से परिस्थितियों ने उसे सफल न होने दिया। नतीजा यह हुआ कि जब अंग्रेजों से देश को स्वतंत्रता मिली, तो वास्तव में वह आम जनता को नहीं, सामंतों, धनाद्यों, वकीलों और बौद्धिकों को मिली। इसी का वह दुःखद परिणाम हुआ कि कांग्रेस के इतने लम्बे शासनकाल में भी प्रान्त-प्रान्त की जनता अब तक संवैधानिक दुःख-दर्द भोग रही है।

मैंने जो वह सब बातें कही हैं, उससे स्पष्ट हो जायगा कि अतीत में काव्य और साहित्य का जो सृजन हो रहा था, वह जनता के जीवन का सत्यान्वेषी नहीं, अपितु यथास्थिति में जीते रहने की प्रवृत्ति का ही साहित्य था।

अब वैज्ञानिक और तकनीकी उपलब्धियाँ प्राप्त हो चुकी हैं। आगे भी प्राप्त होती रहेंगी। उधर समाजवादी देशों में जनक्रांतियाँ हो चुकी हैं और वहाँ समाजवादी राज्य कायम हो चुके हैं। तात्पर्य यह कि संसार का शासन दो भिन्न जीवन-दर्शन के अनुसार होने लगा है। एक जीवन-दर्शन तो भाववादी या परिकल्पनात्मक जीवन-दर्शन है, जो आम जनता को जैसा है, वैसा भोगने को विवश बनाए रखता है और राज्य सत्ता कुछ व्यक्तियों की मुट्ठी में चली जाती है। जनता को, शासन में हस्तक्षेप करने का जो अधिकार दिया भी जाता है, वह ऐसा नहीं होता कि वह उसमें कुछ मूलभूत परिवर्तन कर सके और स्वयं निर्णायक भूमिका अदा कर सके।

दूसरा जीवन-दर्शन उसके बिल्कुल विपरीत, भौतिक जीवन-दर्शन होता है, जिसमें शासन जनता के हाथ में होता है। ऐसे शासन में कोई अलौकिक हस्तक्षेप नहीं होता। शोषण मिट जाता है और सबको समान अधिकार प्राप्त होते हैं। न्याय भी यथानुरूप आम जनता के हितों का संरक्षक बन जाता है। शिक्षा सबको सुलभ होती है। रोजगार सबको मिलता है। काव्य, कला और साहित्य में वर्गीय भूमिका समाप्त हो जाती है। ऐसा समाज व शासन जनमानस की मानसिकता को विकसित सत्य की ओर ले जाता है, सत्य को ग्रहण करने की ओर प्रेरित करता है। मानवीय चेतना महान मानवीय मूल्यों से निर्मित होने लगती है। प्रगतिशील साहित्य इसी जीवन-दर्शन का साहित्य है।

प्रगतिशील साहित्य के सृजन की इसीलिए आवश्यकता हुई कि वह, प्राकृत सृष्टि के और परिकल्पनात्मक सृष्टि के समकक्ष, एक ऐसी साहित्यिक सृष्टि दे सके, जो वैज्ञानिक सत्य से सम्बद्ध हो और किसी भी रूप में वर्गीय न

हो और नाना प्रकार की रूढ़ियों, अंधविश्वासों और निजी अभिरुचियों से मुक्त हो। मानवीय चेतना को ऐसे ही विकसित करके संसार की आम जनता सुखी और समृद्ध हो सकती है। लेकिन दुर्भाग्य यह है कि ऐसी मुक्त मानवीय चेतना से रचे गए काव्य और साहित्य को विकसित नहीं होने दिया गया। आज तक यही कहा गया कि प्रगतिशील साहित्य, आरोपित साहित्य है, मौलिक नहीं है। वह आदमियों की मानसिकता को कुंठित करता है, उसे नष्ट करता है।

देखना यही है कि सच क्या है?

मैं प्रगतिशील साहित्य के पक्ष में कुछ आवश्यक तथ्य रखता हूँ। पहली बात तो यह है कि एक तो प्राकृत सृष्टि है ही, उसका क्रम तो चल ही रहा है। दूसरी मानवीय सृष्टि है, जिसे कवि और साहित्यकार निर्मित कर रहे हैं। इतिहास बताता है कि ऐसी सृष्टि आदमी की चेतन सृष्टि है। आदमी उत्तरोत्तर अपनी चेतना को विकसित करता जाता है, और उसी से जो सृष्टि करता है, वह उसकी चेतन सृष्टि होती है।

जब से आदमी ऐसा करने लगा है, तब से अतीत में ऐसे काल-खण्ड नहीं आए, जब उसकी चेतना के अतिरिक्त उसके पास कोई अवचेतन-उपचेतन मानसिक स्थितियाँ रही हों। अवचेतन और उपचेतन हैं क्या? यह ऐसी मानसिक स्थितियाँ हैं, जो समय के साथ, आदमी के संघर्ष के साथ, और उसके जीवन जीने की कार्य-क्षमता के साथ, कभी जुड़ीं, नहीं। दूसरे शब्दों में, उन्हें वहीं छोड़ दी गयी मानसिकता कहा जा सकता है, जो कभी चेतन रूप नहीं ले सकीं। तो, वह एक तरह की भूली-बिसरी, त्यागी, त्यक्त पड़ी रह गयीं, पहले की अविवेचित और अविवेकित ग्रंथियाँ हैं, जिसको चेतन आदमी ने कोई महत्व नहीं दिया। ये संस्कार भी नहीं हैं।

अब देखना है कि उन मानसिक स्थितियों का क्या कोई, चेतन मानवीय काव्य और साहित्य में स्थान है या नहीं?

मैं समझता हूँ कि प्राकृत सृष्टि की समकक्षी मानवीय चेतन सृष्टि में ऐसे उपचेतन और अवचेतन को कोई स्थान नहीं दिया जा सकता। उसका पहला कारण तो यही है कि ये (अवचेतन और उपचेतन) मानवीय चेतन सृष्टि के प्राथमिक आधार के ही विरुद्ध जाते हैं क्योंकि तब तो चेतन और अवचेतन का अस्तित्व ही संभव नहीं हुआ था। फिर बाद को जब सामाजिक व्यवस्था ने आदमी को संकीर्ण बना दिया और राज्यसत्ता तथा प्रभुसत्ता प्रबल सत्ताधारियों के हाथ में चली गयी, तब प्राथमिक मानवीय चेतना अपने प्रवाह

से अलग कर दी गयी और संकीर्णता ने उसको गतिशील होने से रोक दिया। परिणाम यह हुआ कि वे मनःस्थितियाँ मानव के संस्कारी जीवन में भी न आ सकीं और वहीं की वहीं, परत-दर-परत में, दबी पड़ी रह गयीं। जब बाद को, कभी किसी परिस्थिति विशेष में, या वैयक्तिकता को स्थापित करने के आवेश में, या मौलिक होने के रंग में, आदमी आया, तो वह इनका पक्ष लेकर आम मानवीय चेतन सृष्टि को ही नकारने के प्रयत्न में उसने अवचेतन या उपचेतन की नयी सृष्टि की अवतारणा प्रारम्भ कर दी।

वास्तव में, जो अचेतन रहा या जो उपचेतन रहा, वह तो इसीलिए आदमी के दिमाग में पड़ा रह गया क्योंकि वह उसके लिए निरर्थक था। तो, बाद को उनको लेकर यह नहीं कहा जा सकता कि इन्हें भी साहित्य और काव्य में स्थान दिया जाय और उनकी महत्ता स्वीकार की जाय और इन्हीं-इन्हीं, को मौलिकता और वैयक्तिकता का सार समझा जाय और जो कुछ, इन्हें छोड़कर, साहित्यिक या कलात्मक सृष्टि की जा रही हैं, वह निरर्थक है।

मेरी समझ में अवचेतन और उपचेतन एक तरह के मानसिक विकार हैं, जो आदमी के सत्यान्वेषी जीवन न जीने की वजह से, उसके मस्तिष्क में पैदा हुए। उनको मैं रोग कह सकता हूँ। इनका निदान किसी मनो-चिकित्सक द्वारा किया जाना चाहिए, न कि इनको आदमी की चेतन सृष्टि के समकक्ष साहित्य और काव्य में कोई स्थान दिया जाना चाहिए।

इसके अतिरिक्त, मैं यह भी कहता हूँ कि इनको आज, वर्षों के बाद, साहित्य और काव्य की प्रगतिशील सृष्टि में देने का मतलब अपने साहित्य और काम को रुग्न बनाना है, जो सर्वथा अनुचित है। ऐसा न जनहित में होना चाहिए, न व्यक्ति के हित में। जो भी सृष्टि की जाती है, उसे सृष्टि का एक विवेकपूर्ण आदर्शोन्मुख चरित्र बनाया जाता है, ताकि वह सामाजिक दायित्व का वहन कर सके और सामाजिक जीवन में सुरुचिपूर्ण सौन्दर्य स्थापित कर सके और चेतन सृष्टि की निरंतरता कायम रह सके और ऐसा न हो कि वह प्रकृत सृष्टि के समकक्ष पहुँचा दी जाय, जहाँ सैकड़ों, करोड़ों वर्षों तक किसी रचना की सम्भावना न हो।

उपरोक्त विवेचन मैंने इस संकलन की भूमिका में इसलिए करना आवश्यक समझा कि प्रस्तुत संकलन में कुछ कविताएँ ऐसी हैं, जो मेरे इसी कथन को प्रमाणित करती हैं। इस दृष्टि से इन कविताओं को पाठक पढ़ेंगे, तो उनकी सार्थकता का महत्व समझेंगे और उन्हें यह कह कर नकार न देंगे कि यह सपाटबयानी है।

सपाट बयानी जहाँ केवल तर्कहीन और अविवेकी होती है या अवैज्ञानिक होती है अथवा केवल राजनीतिक बात में होती है, वहाँ वह दरअसल में सपाटबयानी होती है, लेकिन जहाँ, जो कुछ कविता में कहा गया है, यह सत्य की पकड़ से उद्भूत हुआ है और भाषा उसे लेकर सत्य के रूप में स्थापित कर सकी है, वहाँ वह सपाटबयानी नहीं हो सकती। ऐसी कविताओं को नकारा नहीं जा सकता। इनका भी आज के युग में, आज के साहित्यिक संदर्भ में, मानवीय चेतना के विकास के लिए, लिखा जाना और प्रकाशित कराना परम आवश्यक है। हो सकता है कि ऐसी कविताएँ, अभी नये संदर्भों में लिखी जाने की वजह से, वह कलात्मक गठन न पा सकीं हो, जो केवल दीर्घकाल के बाद ही अर्जित होती है। ऐसी कविताएँ नवागत कविताएँ हैं। इनकी सत्य की पकड़ ही इनका प्राण है। वही इनकी कलात्मकता है। इसी कलात्मकता से दिक्खम और दृष्टिदोष दूर हो सकता है। कला भी कई तरह से व्यक्त होती है, यह भी उन्हीं में से एक है।

अन्य कविताओं के बारे में कुछ विशेष नहीं कहना। पाठक-स्वयं पढ़ कर अपनी राय बनायें।

अन्त में मैं आभार प्रकट करता हूँ, विशेष रूप से डॉ० अशोक त्रिपाठी के प्रति, जिन्होंने अपना सहयोग दिया और मेरे श्रम को सार्थक किया। इनके अतिरिक्त अपने प्रकाशक श्री शिवकुमार सहाय के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ कि वह सक्रिय रूप से संकलन के प्रकाशन में पूरे समय जुड़े रहे हैं। बाँदा के सर्वश्री कृष्णमुरारी पहाड़िया, नरेन्द्र पुण्डरीक, श्री कौशल किशोर व एहसान आवारा भी मेरे आभार के अधिकारी हैं। ओंकार शरद ने बड़े स्नेह से इस संकलन की सामग्री के चयन में सहयोग दिया। उनका भी आभारी हूँ। प्रेमशंकर रघुवंशी (कवि) भी आभार पाने के अधिकारी हैं। उन्हें भी मेरा आभार।

बाँदा

—केदारनाथ अग्रवाल

26-7-85

अनुक्रम

कविता का शीर्षक	तिथि	पृष्ठ
वह समाज में	5-4-63	19
न रहा मेरा दोस्त नरोत्तम	9-2-68	20
न ले गया चन्द्रमा	2-4-68	21
लिखूँगा मैं	15-11-81	22
न्याय का पारा	26-11-81	23
आग पर चढ़ी 'बटुई'	26-11-81	24
उगते-उगते उगा	10-10-81	25
इनको घमंडहै	14-8-81	26
घरों के लोग	28-3-83	27
बियाबान में नहीं	3-4-83	28
चलो, बैठें	12-8-83	29
चला भी न चला मैं	30-8-75	30
दीवार में टँगा	4-10-83	30
अब भी, उस उम्र में	14-3-84	32
हँसो, इस 'हम' पर हँसो	25-3-84	33
हर्ष न आया	10-4-84	34
सच तुम्हारा	5-5-84	35
क्या है व्यवस्था	6-5-84	36
मैंने कहा : कहाँ चले?	7-5-84	37
देश के भीतर	7-5-84	38
बूढ़ा पेड़ बयार बसंती	21-5-84	39
जग सोया, जागी गंधाली	22-5-84	40

बिना बजाये ही	25-5-84	41
पहाड़ के पंख	7-7-84	42
मेघ बरसे	28-6-84	43
मूलोच्छेदित पेड़ हुआ	6-7-84	44
मौत को जीते	7-10-83	45
आधिपत्य आधिपत्य की	19-7-84	46
जंगली जनतंत्र के...	20-7-84	47
घोड़े पर सवार	26-7-84	48
सूर्य नहीं ढूबता साहब !	27-7-84	49
दर्द जब आता है	30-7-84	50
न जाने कहाँ चली गई बिजली	31-7-84	51
आये हो तो	1-8-84	52
पाँव न पकड़ो इनके-उनके	5-8-84	53
चंड से चंडतर	16/17-8-84	54
आप जो करती हैं	9-9-84	56
सिर चढ़े सूर्य को नकारता	20-9-84	56
जलते टिमकते हैं	29-9-84	57
निष्ठाण हो गया शरीर	1-11-84	58
गये अब वे दिन तुम्हारे	3-8-85	59
जब हम आये	8-3-85	60
माह फरवरी	17-3-85	62
चीखता चला गया	31-10-72	64
संग्राम चल रहा है	28-4-85	65
बहुत दिनों से रोके थामे	1-4-85	66
आये बिना बुलाये आये	4-5-85	68
फूल उठा मेरा गुलमोहर	4-5-85	69
बल्ब का पर्यूज होना	5-5-85	71
सिर के ऊपर चढ़कर सूरज	6-5-85	72

तापित-तन गेही बेचारे	6-5-85	74
आज सुबह से शाम हुए तक	8-5-85	75
बुलाये बुलाये से आये	11-5-85	76
सिर पर चढ़े सूर्य की	12-5-85	77
मरना होगा यह निश्चित है	14-5-85	80
उड़-उड़ जाती	16-5-85	81
बोल बोल अबोल	17-5-85	83
टिके टेक पर स्वाँग सँवारे	17-5-85	84
अभी, आजकल	18-5-85	85
गोल गेंद से	19-5-85	86
गृह-त्यागी वैरागिन होकर	20-5-85	88
पानी हो गई	22-5-85	89
खड़ी हैं मेरे आँगन में	20-5-85	90
साल भर तक न लाये	22-5-85	91
रोया जहाँ वहाँ पर मैंने गाना गाया	27-5-85	92
तन टूटा, मन टूटा	28-5-85	93
नहीं सहारा रहा	28-5-85	95
मैं देता हूँ जनता को संज्ञान-सहारा	28-5-85	95
सोचते लोग नहीं सोचते	28-5-85	96
शब्दों का अतिक्रमण करो	28-5-85	98
सच का नाच बंदर नहीं नाच पाते	28-5-85	99
वहीं आता हूँ मैं	29-5-85	100
अशब्द की स्थिति में	29-5-85	101
क्या जाने क्या बात हुई	30-5-85	102
अपनी बिजली की तलाश में	31-5-85	103
उसका आना सबने जाना	1-6-85	105
जो लिखाओ वही लिखती है कलम	1-10-80	106
जानो तो क्या	20-10-81	107

आर-पार खोजते रहे	21-10-81	109
पानी पी गई नहर	23-9-82	110
लीला के बाद	6-10-82	112
गिर रहे हैं	12-12-82	113
हाँक के हाँके हम	20-12-82	116
प्यार के पंख	7-6-85	117
जी कहता है	10-6-84	118
न कुछ होकर भी आदमी	3-10-82	120
उड़ उड़ जाता	13-6-85	121
दुख ने मुझको जब-जब तोड़ा	15-6-85	122
उतरा जेठ, चढ़ा आषाढ़	18-6-85	123
कविता दूँगा	18-6-85	124
आया तो आषाढ़	17-6-85	125
पहुँच के पारंगत	12-6-85	126
कोयल कुहकी	20-6-85	127
क्या होता है सच जमीन का	20-6-85	128
आँखें शाम उदास	23-6-85	129
यहाँ बैठे देखता हूँ	23-6-85	130
फूल जैसे कहे	23-6-85	131
चारों आँखों में हम दोनों	23-6-85	132
वे गये आये नये	24-6-85	133
चुप रहें	26-6-85	134
न थोड़ा—न बहुत	26-6-85	135
हम रहे, जैसे	26-6-85	136
कील जो गड़ी	26-6-85	137
न चारण हूँ—न चाटुकार	19-6-85	138
कविताओं में जो मैंने लिखा	1-7-85	141
हम न बदले	6-7-85	143
	□ □	

ਬੋਲੇ ਬੋਲ ਅਬੋਲ

वह समाज में

वह
समाज में
न्याय न पाकर,
अन्यायों की चोट दबाकर,
भरी देह का
नेह सुखाकर,
खाकर ठोकर—
रोम दुखाकर,
अपने सपने
धूल बनाकर,
कर से कर पर की मजदूरी,
पग से
हर, पल-पल की दूरी;
जीवन जीती है
अनचाहा,
दुख-दारिद पीती अनथाहा।

5-4-1963

न रहा मेरा दोस्त नरोत्तम नागर¹

न रहा मेरा दोस्त नरोत्तम नागर,
दमदार कलम का तेज शब्दकार,
परवश पेट का चाकर

बुझ गई आग—
चौकन बरस की अप्रतिम आग—
लपट मारते-मारते,
खेलते-खेलते राजधानी में
सम्पादकीय फाग

दर्द को ठेलते-ठेलते खुले सीने से,
तरबतर पसीने से,
अंत तक काटता रहा—काटता रहा
दिन और रात के श्वेत और श्याम पहाड़

काश
वह जीता
अभी और—
अभी और !
न होता मौत के मुँह का कौर !

9-2-1968

¹. चि० विजय नागर का पत्र मिलने पर

न ले गया चन्द्रमा

न ले गया चन्द्रमा
नदी को अपने साथ
चूम-चूमकर प्रसन्न था जिसे, सारी रात
अपनी बनाये

तट पर पड़ी तड़पती है अब
अकुलाई नदी,
आतंक भोगती,
पारगामी पुल का भार छाती पर
उठाये ।

2-4-1968

लिखूँगा मैं

लिखूँगा मैं

फिर-फिर वही
सत्य की कही
सौ फी सदी सही;
नहीं....नहीं—
असत्य की कही नहीं

तुम,

बस तुम—
अपने में गुम,
काव्य की भटाई करो,
चिलम चाहे अपनी
या पराई भरो।

15-11-1981

न्याय का पारा गिरा

न्याय का पारा गिरा
नीचे
और नीचे गिरा;
शून्य तक पहुँचा;
सत्य की हार
और झूठ की
जीत हुई

मौसम
खराब है
गिरावट का,
मातम की मिलावट का।

26-11-1981

आग पर चढ़ी 'बटुई'

आग पर चढ़ी 'बटुई'
खुदुर-खुद
खुदबखुद करती है

भाप है
कि ठेलती-ठालती
कटोरी को
बारम्बार उठाती-बैठाती है
बटुई के मुँह पर

जलती-जागती
लकड़ियों की धधक में
चूल्हे पर चढ़ा चावल चुरता है

धुँआई बिटिया
अँसुवाई बैठी
कोठे में, देखती है
पेट के पालने का
हो रहा आतुर उपचार;
सुनती हुई
भूखोद्धार का मंत्रोच्चार।

26-11-1981

उगते-उगते उगा

उगते-उगते उगा
आदिम अस्तित्व के बीज से,
अनपढ़ आदमी के खलपट पेट में
वाजिब सत्य का वाजिब पेड़,
लेकिन देर से-विलम्ब से;
और फिर,
बढ़ते-बढ़ते,
बरसों में बढ़ा, सूत-सूत करके,
कंठ तक आकर रह गया रुका—
अस्फुट,
अशब्द,
वाणी विहीन;
कह सकने में
असमर्थ अपनी कथा,—
न फूल सकने—
न फल सकने की व्यथा।

10-10-1981

इनको घमंड है

इनको घमंड है
पहाड़ खोदकर
चुहिया निकाल लाने का :
रामायनी भूमि पर
भटकटैया उगाने का :
करछुल भर लिखकर ही
कालिदास होने का—
करछुल भर खाने पर
फौरन बिक जाने का
इसीलिए अक्षम हैं
अच्छा लिख पाने में,
कविता को कंठ से लगाने में।

14-8-1981

घरों के लोग

घरों के लोग
घरों से बाहर हुए,
चोर-उचक्के
घरों के भीतर हुए।

28-3-1983

बियाबान में नहीं

बियाबान में नहीं
शहर में रहता हूँ,
जहाँ आदमी को
आदमी खाये जाता है
शान-शौकत का भूगोल बनाने में,
पूँजी का पुंजीभूत आतंक जमाने में,
तभी तो अकेला हूँ,
मैं ही गुरु—
और मैं ही चेला हूँ।

3-4-1983

चलो बैठें

चलो,
बैठें,
धूप खायें,
भूख वैभव की मिटायें,
पियें पानी,
जियें,
गुन से गुनगुनायें,
रोशनी का प्यार पायें,
जिन्दगी की
जय मनायें।

12-8-1983

चला भी न चला मैं

चला भी
न चला मैं
समय के साथ सब चले जहाँ

मिले भी
न मिले मुझे पवन के पाँव
चक्कर काटते
भूगोल और खगोल का

न दिन हुआ मेरा
न रात हुई मेरी
बहुत उद्धिग्न करती है
व्यामोह की बजती भेरी।

30-8-1975

दीवार में टँगा

दीवार में टँगा
तसवीर हो गया मैं

दूसरों के लिए
दिव्य और दर्शनीय हो गया मैं

अपने लिए
फाँकेमस्त फकीर
हो गया मैं।

4-10-1983

अब भी इस उम्र में

अब भी
इस उम्र में
कलम पकड़े
काँपते हाथ से,
देश और काल की—
कल और आज की
अक्षर कविता लिखता हूँ
कागजी काया पर;
निरक्षर भट्टाचार्य की तरह
संसार की कक्षा में
हर हमेशा पिटते दिखता हूँ।

14-3-1984

हँसो

हँसो,
इस ‘हम’ पर हँसो;
इस ‘हम’ को मथो;
खोट से खोट इस ‘हम’ को कसो;
हँसो,
इस ‘हम’ पर हँसो;

हँसो,
इस ‘हम’ पर हँसो;
दम्भ से दागी
इस ‘हम’ को डसो;
डाह से नहीं—
द्रेष से नहीं
प्यार से;
प्यार ही प्यार भरो,
इस ‘हम’ का विष हरो।

25-3-1984

हर्ष न आया

हर्ष न आया,
आया तो बस आया
विषम विषाद,
जब से तुम-भुजंग ने शासन पाया
देश हुआ बरबाद।

10-4-1984

सच तुम्हारा नहीं सच है

सच तुम्हारा
नहीं सच है;
झूठ का ही वह कवच है,
वही रक्षक—
वही त्वच है।

5-5-1984

क्या है व्यवस्था

क्या है व्यवस्था

जो अव्यवस्थित नहीं है—

भ्रष्टाचार के प्रति समर्पित नहीं है—

अत्याचार के लिये तत्पर नहीं है—

जिसमें

भ्रम और भटकाव का चक्कर नहीं है

तभी तो

व्यवस्थित देश अव्यवस्थित है,

भ्रष्टाचार के प्रति समर्पित है,

अत्याचार के लिए तत्पर है

भ्रम और भटकाव का

चालू किये चक्कर है।

6-5-1984

मैंने कहा

मैंने कहा :
कहाँ चले?
बोला वह :
काम जहाँ चले—
पेट जहाँ पले—
दाल जहाँ गले

मैंने कहा :
ऐसी जगह कहाँ?
बोला वह :
पता नहीं कहाँ;
शायद है वहाँ—
धरती और अम्बर का
छोर जहाँ

मैंने कहा :
वह तो बड़ी दूर है
बोला वह :
हिम्मत भरपूर है।

7-4-1984

देश के भीतर

देश के भीतर दहन और दाह है,
अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर
वाह-वाह है !

7-5-1984

बूढ़ा पेड़

बूढ़ा पेड़,
बयार बसन्ती,
मिले मगन मन—
पतझर के उपरान्त;
कुहुकी कोयल,
देख-देख दोनों का प्यार
नैसर्गिक सम्प्रांत;
पुलक उठा संसार।

21-5-1984

जग सोया

जग सोया,
जागी गंधाली—
प्राणसार प्रज्ञा प्रतिपाली,
मूलाकर्षित
तत्त्वज्ञान की—
प्रस्फुट प्रमुद विधान ध्यान की,
मुक्त मानसी तरु अम्लान की,
आत्म-बोध-विद् वाली

द्रव्य-द्रवण की नंदित धारा,
प्रवहमान हो परम उदारा,
गंधवान करती भव सारा,
मौन मोहिनी चिदवाली ।

22-5-1984

बिना बजाये ही

बिना बजाये ही
बजाते-से खड़े हैं
मैदान के एक कोने में
धतूरे के पेड़,
मुँह से लगाये तुरही,
निश्चित और निरापद,
उपेक्षा को उपेक्षित किये

न बजी
इनके बजाये
इनकी तुरही
फिर भी
खड़े हैं तो खड़े हैं
उसी जगह
उसी तरह
प्रकृति के आदेशानुसार
मुँह से लगाये तुरही।

25-5-1984

पहाड़ के पंख

पहाड़ के पंख—
बादल
पानी बरसते हैं,
झमाझम—
झमाझम—
कोईधते कड़कते हैं

पानी में
नहाये हम,
भीतर से
बाहर से
नये हुए हम,
चेतन हुए हम,
सूर्य-से चमकते हैं।

7-7-1984

मेघ बरसे

मेघ बरसे,
आ गया पानी गगन से,
तरल मंगल-मोद की उत्पत्ति करने—
मेदिनी की व्यथा हरने
नदी-नद-पर्वत-प्रकृति को
मिला जीवन,
हरहराये हर्ष से आद्यंत वन।

28-6-1984

मूलोच्छेदित पेड़ हुआ

मूलोच्छेदित पेड़ हुआ
उड़ गये पखेरू
कहीं और को-
मौन छोड़कर पीछे

ढही
जिन्दगी
सौ बरसों की,
महादान देकर
फूलों का
और फलों का

ऐसे गया
कि जैसे
कोई महिमा-मंडित
पुरुष गया।

6-7-1984

मौत को जीते

मौत को जीते
जी रहे हैं
मेरे शब्द
यथार्थ से कसमसाते—
विसंगतियों से
अकुलाते,
आदमी को
आदमी होने की
असलियत बताते।¹

7-10-1983

1. कांता की कविताएँ पढ़कर

आधिपत्य

आधिपत्य

आधिपत्य की राजनीति में
बढ़ी और वयस्क हुई
रातरानी महकती है

महकते वातावरण की सुगंध में
आन्तरिक ग्रह नीति गमकती है

फूली रातरानी
हमें मूर्छित करती,
दिक्काल में
क्षणभंगुर यश अर्जित करती है।

19-7-1984

जंगली जनतंत्र

जंगली जनतंत्र के
व्यापक प्रपंच और प्रसार में
सामाजिक न्याय पाने की
पूरी प्रक्रिया जटिल है;
आम आदमी के लिए तो यह
और भी
और भी
क्लूर और कुटिल है,
चारों ओर 'किलकिल' है

भुक्तभोगी कहते हैं :
रोओ मत, बेटा !
यहाँ ठेंगा और,
'टिलटिल' है।

20-7-1984

घोड़े पर सवार

घोड़े पर सवार
घड़ियाल रोता है
घड़ियाल के तले
पट्ट पड़ा घोड़ा सोता है

पहरे पर खड़े दिग्गज
दिन में दिखावटी,
रात में बनावटी लगते हैं

यही है मेरा देश,
इसे पहचानिये,
इसे इस संकट से उबारिये

घड़ियाल और घोड़े को भगाइये
हाथी-हीन
राजनीति
जल्दी से चलाइये ।

26-7-1984

सूर्य नहीं डूबता साहब

सूर्य नहीं डूबता साहब !
घूमती दुनिया
स्वयं सूर्य से मुँह फेर लेती है;
उजाला उतारकर
अँधेरा लपेट लेती है;
तभी तो आदमी
यथास्थिति में पड़े-पड़े
अंधे हुए हैं;
सुबह से पहले
अँधेर नगरी में
खोये हुए हैं
सूर्य नहीं—
आदमी डूबता है, साहब !

27-7-1984

दर्द

दर्द

जब आता है
नचाता है मुझको,
बर्फ पर
आग पर चलाता है
मुझको ।

30-7-1984

न जाने कहाँ चली गई बिजली

न जाने कहाँ चली गई बिजली?

अँधेरे में अंधा कर गई हमको
असहाय

अब

टटोलते हैं अपना शरीर,
अपना अस्तित्व
खोजते हैं अधीर।

31-7-1984

आये हो तो

आये हो तो
उमड़-घुमड़कर,
नीचे आकर,
और निकट से
इन धनहा खेतों के ऊपर,
अनुकम्पा का झला मारकर,
जी उँडेलकर,
झम-झम-झम-झम बरसो;
गिरे दौंगरा गद-गद-गद-गद
लिये हौसला,
झड़ी न टूटे,
भरें खेत, उफनायें, लहरें,
हरसें, हहरें;
रोपे धान बढ़ें,
बल पायें,
पौरुष पायें;
हरी-भरी खेती हो जाये,
सुख सरसाये ।

1-8-1984

पाँव न पकड़ो

पाँव न पकड़ो
इनके-उनके,
कंचन के सिर-काँधे जिनके,
पाँव नहीं हैं जिनके अपने,
झूठे होते जिनके सपने।

5-8-1984

चन्ड से चन्डतर

चन्ड से चन्डतर
दर्पित दहकता है
केन्द्र का दम्भी सूर्य,
काँपते देश के हाँफते अस्तित्व पर,
व्यग्र और व्यथित हैं
प्रान्त-प्रान्त के निवासी।

16/17-8-1984

आप जो करती हैं

आप जो करती हैं
देश में, देश के लिए
यदा-कदा ठीक करती हैं;
कुछ ऐसे कि
जो खराब है—
खूसट है न दिखे,
दिखे तो बस ऐसे
कि ऊपर-ऊपर अच्छा दिखे,
आपके लोग
आपको अच्छा कहें;
आपका सिक्का बराबर चालू रहे,
जहाँ कुछ न होता दिखे—
वहाँ महोत्सव होता दिखे,
उत्पात की भीड़
उल्लास का झंडा,
उठाये फिरे।

9-9-1984

सिर चढ़े सूर्य को नकारता

सिर चढ़े सूर्य को नकारता,
आँगन में
खड़े-खड़े हँसता है
गुलाब का गर्भीला पेड़,
मनहर फूल खिलाये,
संसार को
सुगंध से महमहाये,
मेरी ओर हेरता—
टेरता-पुकारता
इस उम्र में भी मुझे
रंग-रूप से अभिपुष्ट किये
जरा-मरण-हीन बनाये।

20-9-1984

जलते टिमकते हैं

जलते
टिमकते हैं
अंधेर की अंधी रात में
अनया माटी के दिये,
आग के अँखुए उगाये,
साल भर बाद
लौट आई 'लछमिनिया' के
स्वागत में
'शुभ' से 'अशुभ' को
परास्त करते हैं
भड़भड़िया पटाखे,
छूटते-फटते
जान देते,
'लाभ' के लिये लालायित,
विकीर्ण करते
आत्मदाही आलोक,
धुएँ के
शासनागार में।

29-9-1984

निष्ठाण हो गया शरीर

निष्ठाण हो गया शरीर,
गोलियों का मारा
शेष है अब
जय और जाप का नाम
इन्द्रा

राष्ट्र का पक्षी मोर
पुकारता है
प्रियदर्शिनी को,
पाता है जमीन पर पड़ा
उनका बलिदानी रक्त।

1-11-1984

गये अब वे दिन तुम्हारे

गये अब वे दिन तुम्हारे

तेजतापी—

प्रण-प्रतापी—

सिंहनादी—

निशाघाती—

ध्वजाधारी—

धनुधरी

रहे अब तुम तो अकेले,

मेरु से तल में ढकेले,

सहो तम के कुटिल रेले,

प्राणघाती सौ झमेले

बचे अब ये दिन तुम्हारे,

जियो इनको थके हारे;

झुके बैठें, मौन धारे,

केंचुली गत की उतारे।

3-8-1984

जब हम आये

जब हम आये
बंधन में बँधकर चिचियाये,
फिर जीवन भर इधर-उधर हम
रहे-रहे अकुलाये,
जैसे-तैसे आगे बढ़ते
खड़े पहाड़ों से टकराये,
तन से टूटे, मन से टूटे
दिन में दहके
और रात में बौराये;
जितना देखा,
जितना सीखा,
उसको सिर पर फिरे उठाये;
बादल ने-बिजली ने मारा,
फिर भी प्यार मिला फूलों का,
हम मुसकाये;
अपना बोझा आप उठाये,
चले पंथ अपना, इठलाये
कभी ओढ़ते रंग प्रात के,

कभी तड़पते दिनाघात से,
छोटे रहे, छाँह क्या देते,
सदा रहे हम बिना पात के
लड़े दून्ध से कविता बनकर,
शब्द-शब्द को साथे, तनकर;
अर्थवंत हो प्राण बचाये,
इस दुनिया को कंठ लगाये।

8-3-1985

माह फरवरी

माह फरवरी का छब्बिसवाँ दिन था
बिटिया मेरी किरन हुई फिर बिधवा
तजकर गये हरीश जी

भारी वज्राघात हुआ हम सब पर
रोये, तड़पे और विकल घबराये;
दिन की बाँह रहे हम पकड़े पल-छिन,
चले डोलते डगमग पाँव बढ़ाये

रातें काटीं बिना नींद के हमने,
साँसें लेते रहे प्राण को साधे;
अंधकार में दिखे न हमको तारे,
टूटा धैर्य रहे हम उसको बाँधे

उठे सबेरे सूरज देखा, रोते
विवश हुए हम फिर दुनिया ने धेरा,
काम काज में ढूबे, मन से ऊबे,
व्यर्थ लगा फिर यह सब मेरा-तेरा।

पूरी तरह पराजित, पीड़ित, चिंतित,
युग-यथार्थ के टक्कर हमने खाये
जैसे-तैसे जीवन जीते-जीते,
बीती बातों से मन को उलझाये ।

17-3-1985

चीखता चला गया

चीखता चला गया,
निर्बन्ध उड़ता जहाज का पंछी
न जाने कहाँ आकाश में,
मुझे छोड़कर अकेला,
यहाँ,
भोगने के लिये
हरहराती लहरों का रेला।

31-10-1972

संग्राम

संग्राम

चल रहा है
सूर्य का
मेरे मस्तिष्क में

हताहत
हो रहा है
आसुरी
अँधेरा असहनीय

झराझर
झर रहा है
संज्ञान,
सत्यापित कमनीय,

जीवंत
जी रहा हूँ
जिन्दगी
प्रमुद भूमंडलीय

28-4-1985

बहुत दिनों से रोके-थामे

बहुत दिनों से रोके-थामे अपने आँसू
भीतर-भीतर कैद रहा मैं
धीरज धारे,
लेकिन आज
अचानक रोया
फफक-फफककर,
जैसा पहले कभी न रोया
इतना ऐसे,
प्रिया बहुत कमजोर हुई बीमार पड़ी हैं,
आँखें
बंद किये रहती हैं,
नहीं खोलतीं,
ओठ न खुलते,
बिना बोल के
कँप कँप जाते
आज सुबह से
जन्म दिवस पर
दुखी द्रवित हूँ
जीवन-साथी की पीड़ा से प्राण तड़पते,
साहस पल-छिन टूट रहा है
झटके खाते,

बुद्धिया देह, इन्द्रियाँ बूढ़ी
हतोत्साह हैं,
जाने क्या होने वाला है?
नहीं समझ में आता
चेतन भी मैं हुआ अचेतन,
बेकाबू घबराता
डूब-डूब अंधे सागर में
मैं उतराता
अगम अथाह व्यथा का कोई
छोर न पाता,
उड़ते पक्षी देख विकल मन,
टूटा जाता।

1-4-1985

आये बिना बुलाये आये

आये,
बिना बुलाये आये,
करुणाकर
करुणानिधि आये
अब बरसेंगे
घन गुलाब जल,
निर्मल,
मई महीने में;
ताप तपे मनु के बेटों को,
मोद मिलेगा जीने में।

4-5-1985

फूल उठा मेरा गुलमोहर

फूल उठा मेरा गुलमोहर
लम्बे कद का
फिर इस बार
मई महीने के पहले सप्ताह में

वह सूरज से लड़ा,
न हारा;
सूरज हारा

काम न आये दहन-दाह के
दाँब प्रतापी

मुँह की खाई एक आँख के पहलवान ने,
साख गँवाई;
यह देखा मैदान ने
पशु-पक्षी-इंसान ने

खुश हैं फूल, छोटे-छोटे, बेहद प्यारे,
रूप-रंग से देह सँवारे

गुलमोहर की जीत
जीवन की ही जीत है
हारे रवि की हार
दहन-दाह की हार है

यह छवि का संसार है,
मुझको इससे प्यार है।

4-5-1985

बल्ब का प्यूज होना

बल्ब का
‘प्यूज’ होना
आदमी का मरना है;
न यहाँ रहना है—
न प्रयाण करना है;
न लौटकर आना है,
न पुनर्जन्म पाना है;
गये की याद
अवश्य रह जाना है;
यही क्रम
जीवन का जाना-माना है।

5-5-1985

सिर के ऊपर

सिर के ऊपर

चढ़कर सूरज
आँख दिखाता है, दुनिया को
दहन-दाह से दहकी

पेड़ों के नीचे बैठी हैं
जान बचाये
सब छायाएँ छोटी होकर,
खिन्नमना
दूर-दूर तक नहीं दिखाइ देते राही;
आहें भरती हैं
जमीन पर
लेटी राहें

आकुल हैं
प्यासे पशु-पक्षी;
नहीं मिला है उनको अब तक
किसी दिशा से
पानी का आमंत्रण
होता है धीरज-धनु-भंजन।

घर के बाहर
धूप धधकती
बिना आग के धरती-जलती

घर के भीतर
ज्वराक्रान्त हैं सारे कमरे—
सब दीवारें—
पक्के-पक्के फर्श हमारे

लपट मारता
हाँफ रहा है, चक्कर खाता, पंखा हारा

रुक-रुक जाती बिजली
न खरे कर-कर आती,
फिर भी पानी
साथ न लाती,
शासन की बिटिया
शासन की नाक कटाती ।

6-5-1985

तापित-तन

तापित-तन गेही बेचारे,
गरमी के मारे,
मुँह बाये, तड़प रहे हैं
लुंठित हुए, सताये।

6-5-1985

आज सुबह से

आज सुबह से शाम हुए तक,
बुलबुल के जोड़े ने गाया;
मेरे घर में दिन भर गूँजा,
मधुर कंठ से गाया गाना

नर मादा दोनों के दोनों,
एक दूसरे पर मन वारे,
रस उँडेलते-रस को पीते,
दहन-दाह को रहे भुलाये

मैंने और प्रिया दोनों ने
सुना प्रेम से गाया गाना;
आत्म-विभोर हुए हम ऐसे,
हमने ही वह गाया जैसे

सफल हुआ दिन भर का जीना,
एक साथ मिलकर मधु पीना;
दहन-दाह की दुनिया भूले,
प्रेम-लोक का झूला-झूले ।

8-5-1985

बुलाये बुलाये से

बुलाये बुलाये से
आये भी तो जैसे न आये,
छोड़कर चली जाये
वह कोई और नहीं
पत्नी नहीं—
प्रिया नहीं—
कविता है,
जो किसी की अपनी नहीं।

11-5-1985

सिर पर चढ़े सूर्य की

सिर पर चढ़े सूर्य की
तूती बोलती है

संत्रस्त है सुबह से
खौलता बाँदा,
धूप के ताये तापमान से

लपट की
लपेट में लिपटा
पहाड़,
नदी के नेह से वंचित,
समाधिस्थ है
देवाधिदेव के समान

आसमान भी
ताने है
आग का
अनबुझ अकम्पित वितान

प्राकृत प्रमोद में
कूकती कोयल

प्राणियों में प्राण फूँकती है
काल-भैरव से जूझती है

पीर से पीड़ित नीर
नदी की गोद में
लहरें लेता है
अधीर !

निर्भय खड़े हैं
जमीन के बेटे पेड़,
संकल्प से सधे—
पत्तियों से लदे,
बूढ़े और जवान
एक समान

मई का महीना
जुल्म का जाहिर महीना हुआ

जुल्म में
जीते लोग
क्षुब्ध हैं
प्रकृति के निर्मम विधान से
आततायी सूर्य के संविधान से

पानी को पुकारते हैं
पानी के प्यासे लोग;
बहरा पानी नहीं सुनता—नहीं सुनता।

दूर है
अभी
बहुत दूर है बरसात
कि बादल आयें—
पीर हरें—पानी बरसायें—
प्यास बुझायें,
अनाचार संताप समय का
शीघ्र मिटायें।

12-5-1985

मरना होगा

मरना होगा यह निश्चित है
नहीं जानता कोई-कैसे?
फिर भी हम
मरने से डरते,
डरते-डरते जीवन जीते,
जब तक जीते तुष्ट न होते,
असंतोष के आँसू रोते
दुर्बल मन के दुर्बल प्राणी,
मरते दम तक हारे रहते;
बिना किनारा बहते-बहते,
दूब-दूबकर
फिर उतराते;
सुख के साथ नहीं रह पाते;
हम सुख की लहरों से ढूटे,
बूँद-बूँद बन सबसे छूटे।

14-5-1985

उड़ उड़ जाती

उड़ उड़ जाती
फिर फिर आती
पतले तंतु दबाये लाती
बुलबुल अपनी नीड़ बनाती
नीड़ बनाने में खो जाती,

तंतु जोड़ती
गोल घूमती
चक्राकार लपेट लगाती
अँजुरी की आकृति में लाती
प्रजनन-गृह को
रुचिर बनाती,

इसी नीड़ में अंडा देगी
अंडे के ऊपर बैठेगी
ममता से अंडा सेयेगी
मातृ-धर्म-निर्वाह करेगी,

पककर जब अंडा टूटेगा
अंडे से बच्चा निकलेगा
तब बच्चे को प्यार करेगी
चारा देगी, भूख हरेगी,

बच्चा फिर उड़ना सीखेगा
उड़-उड़कर जीवन जीतेगा
पेड़ों पर बैठे गायेगा
गाकर परम प्रसन्न रहेगा,

नीड़ यही गाथा कहता है
जीवन सदा अमर रहता है
इस विचार से सुख मिलता है
मेरा हृदय-कमल खिलता है,

बुलबुल गाये, फिर फिर गाये
आये-जाये नीड़ बनाये
बच्चे की माता बन जाये
जीवन की जय सदा मनाये ।

16-5-1985

बोले बोल अबोल

बोले बोल अबोल
मर्माहत भूगोल-खगोल,

जनगण की कथनी से विचलित
असुर-समर करनी से विदलित
होकर डावाँडोल,

वर विवेक से बोधित, वंदित,
सत्य-समीक्षा से प्रतिबद्धित
शब्द-अर्थ को तोल,
बोले बोल अबोल,
मर्माहत भूगोल-खगोल ।

17-5-1985

टिके टेक पर

टिके टेक पर स्वाँग सँवारे
आगा-पीछा बिना बिचारे
जीते हैं जो अपना चिंतन
मारे मौलिक बौद्धिक आसन,
वे
नितान्त एकाकी प्राणी
अपनी वाणी के वरदानी
व्यक्तिवाद के प्रस्तोता हैं
सृष्टा हैं—
 अपने श्रोता हैं,
इनसे
 कभी न जनहित होगा
होगा तो बस अनहित होगा
इनका
 अपना घाट-किनारा
प्यारा है, दुनिया से न्यारा,
इनको मिली न शिव की काशी,
मिली इन्हें भ्रम-भूमि प्रवासी
ये हैं परम अलौकिक भोगी
इनसे हरे लौकिक योगी।

17-5-1985

अभी आजकल

अभी,
आजकल
यों तपते हैं दिन,
जैसे
वे हों
खून चूसती
नरभक्षी बाधिन,

तब
फिर
कैसे होंगे दिन
जब नौ दिन नवतपा तपेगा?

तब
नाचेगी
नाच मसानी
नौ दिन सातों जीभ निकाले
प्रखर अगिन।

18-5-1985

गोल गेंद से

गोल गेंद से
पके-पके फल,
आत्म-सुगंधी—
कनकाभी-पीताभ
ऊँची डालों से लटकाये
पेड़ बेल का
खड़ा हुआ है,

दृढ़-प्रतिज्ञ-सा
हरी पत्तियों को लहराये
मेरे बाड़े के भीतर का वासी,

कई जगह से तना छिला है
छाल छील ले गये
नगर के रोगी
भजनाननंदी भोगी,

आहत भी यह रहा अनाहत
पेड़ बेल का,
प्रवर वीर है
जीवन जीने का अभिलाषी,

इसे देखकर
भूल गया मैं
अब तो अपना दीन बुढ़ापा;
यह मेरा ही युवा-रूप है
तन-मन प्राणों से प्रसन्न हूँ।

19-5-1985

गृह-त्यागी बैरागिन होकर

गृह-त्यागी बैरागिन होकर
मादा बया हमारे घर से
चली गई अनचाहे मन से
नीड़ छोड़कर बना बनाया,

हमलावर भूखे बिलार की
नियति देखकर खोटी खूनी,
सूना नीड़ पुकारे उसको
गहरा दुख होता है मुझको ।

20-5-1985

पानी हो गई

पानी हो गई
गिलास में पड़े-पड़े
बर्फ की देह,
प्यासा आदमी
पानी पीता है
गिलास से,
बर्फ को धन्यवाद देता,
गले की प्यास बुझाये।

22-5-1985

खड़ी हैं

खड़ी हैं
मेरे आँगन में
दोनों हमजोलियाँ—
बोगन बेलियाँ
रंग-बिरंगे फूल खिलाये,
परावर्तित किये
मेरे अंतरंग में
जमीन में जीने का महोल्लास।

20-5-1985

साल भर तक

साल भर तक
न लाये
मेरे आँगन में खड़े
मोगरे के दोनों पेड़-भाई
एक भी फूल,

साल भर तक मैंने दिया पानी–
साल भर तक इनने पिया पानी–
बेकार गया पानी–
मेरा दिया पानी,

न खिलखिलाये–
न फूल लाये निर्लज्ज,
एक भी बार,

अब पहली बार
गिनती में लाये दो-चार
छोटे बहुत छोटे,
घुंडीदार-मुरदार।

22-5-1985

रोया जहाँ

रोया जहाँ
वहाँ पर मैने गाना गाया,
गीतों का अक्षयवट
अबकी बार उगाया,
अंतरिक्ष तक
गूँज उठीं मेरी स्वर-ध्वनियाँ,
धरा-धूल पर
लगीं नाचने छवि की परियाँ।

27-5-1985

तन टूटा

तन टूटा,
मन टूटा,
लेकिन आन न टूटी,
चाल-चलन की
पहलेवाली बान न छूटी,
बूढ़े कंधों पर
साधे हूँ सिर का बोझा,
नहीं चाहिए
मदद तुम्हारी औघड़ औझा ।

28-5-1985

नहीं सहारा रहा

नहीं सहारा रहा
धर्म का और करम का;
एक सहारा है
बस मुझको नेक कलम का,
जरा-मरण से हार न सकते
मेरे अक्षर
मेरी कविताएँ गायेगी
जनता सस्वर।

28-5-1985

मैं देता हूँ

मैं देता हूँ
जनता को संज्ञान सहारा,
अपनी सत्यापित इन
कविताओं के द्वारा,
टूट-टूट जाती है इनसे
जड़-मति कारा;
इनको पाकर-गाकर कोई
कभी न हारा।

28-5-1985

सोचते लोग

सोचते लोग
नहीं सोचते।
सोचने का बहाना किये,
अपना किराना बाँटते हैं
बिना बयाना लिये;

न हुआ तो कभी
अपनी कड़ाही का गरम तेल
दूसरों पर उछालते हैं;
बिना तले तालमखाने
संगी-साथियों को परोसते हैं,

खुश हुए तो अपनी पीठ ठोंकते हैं,
नाखुश हुए तो
देवी-देवता-जहान को कोसते हैं,
फिलहाल
अपनी धुआँती लालटेन लिए
अँधरी रात में निकले,

पूर्णिमा की
तलाश में,

झाड़ियों में फँसे—
कराहते हैं
और सोचने का अन्दाज
निबाहते हैं।

28-5-1985

शब्दों का अतिक्रमण करो

शब्दों का अतिक्रमण करो
कहे के बाद जो अनकहा है उसे वरो
यह कुछ और नहीं—
आयातित कमजोरी है—
कल्पना कोरी है

इसके चक्कर में जो पड़ा
महान होने के बजाय—
जमीन में जिन्दा गड़ा।

28-5-1985

सच का नाच

सच का नाच
बंदर नहीं नाच पाते
फिर भी मदारी डमरू बजाते हैं
बंदर नचाते हैं
झूठे नाच से पैसा कमाते हैं।

28-5-1985

वहीं आता हूँ मैं

वहीं आता हूँ मैं
जहाँ
ओस गिरी है,
उसे उठाने,
आलोक से गुदगुदाने,
आँख का तारा बनाने ।

29-5-1985

अशब्द की स्थिति में

अशब्द की स्थिति में
शब्द-बेधन नहीं होता
नाम को भी संवेदन नहीं होता,
आदमी
इंद्रियों में नहीं—
कहीं और होता है
जहाँ न संचेतन होता है
न सम्प्रेषण होता है,
इयत्ता में अपनी
निरर्थक होता है,
न अलभ्य उसे मिलता है
न असीम उसे मिलता है
अशब्द की स्थिति में
आदमी विस्थापित होता है
न अपना होता है—
न पराया होता है।

29-5-1985

क्या जाने क्या बात हुई?

क्या जाने क्या बात हुई?

टिड्डा आया
तरु पर बैठा
उड़कर फौरन चला गया
तरु कुम्हलाया

इस घटना ने मुझको छूकर
द्रवित बनाया
टिड्डा मुझको याद रह गया
तरु को मैंने सींचा—
हरा बनाया।

30-5-1985

अपनी बिजली की तलाश

अपनी बिजली की
तलाश में निकला बादल,
चलते-चलते—
इस नगरी के महाकाश में आया
देखा उसने केन किनारे—
टुनटुनिया पर्वत के नीचे
आबादी में
बामदेव के मन्दिर तक में

कहीं न पाकर अपनी बिजली
ऐसे रोया जैसे रोये
राम विरह में, बड़ी देर तक
आँसू बरसे
खड़े पेड़ सब भीगे
धरती भीगी, उमड़ पड़ी करुणा की धारा

चला गया फिर बाँदा तजकर

लेकिन भूल गया ले जाना
अपना इंद्रधनुष सतरंगी,
बिना बान का खींचा-ताना

धीरे-धीरे गलता जाता,
आसमान में मिट्टा जाता
बादल के आने और,
बिजली के न होने पर।

31-5-1985

उसका आना¹

उसका आना
सबने जाना,
जाना नहीं किसी ने जाना;
वह झोंका था एक
हवा का;
आया
दुनिया बदल गई;
बदली दुनिया
सब को बदल रही;
जागे जनगण देश-देश में
जीवन की जय बोल रहे,
शान्ति-समर्थक—
युद्ध-विरोधी
मौन-बंद मुँह खोल रहे।

1-6-1985

1. रूस की अक्टूबर-क्रान्ति के आने पर

जो लिखाओ

जो लिखाओ
वही लिखती है कलम

दोष-कलम का नहीं—
आदमी का है
कि आदमी की कलम
आदमी के खिलाफ लिखती है—
निरपराध के खिलाफ
अपराध करती है,
झूठ को सच
और सच को झूठ करती है।

1-10-1980

जानो तो क्या ?

जानो तो क्या ?
न जानो तो क्या ?
ऐसी बात नहीं है

जानना
पेड़ का—पहाड़ का
रेत और पानी का
कर्म की रवानी का,
उनका हो जाना है—
सृष्टि से
एकात्म हो जाना है
अहं को सर्वात्म बनाना है।

न जानना
इनको—उनको—
आसपास के राज को—
दूर—दराज को—
धरती और आकाश के विस्तार को
दिन और रात के प्रसार को—
सूक्ष्म और स्थूल के भेद और विभेद को
द्रव्य और द्रवीभूत के वेद को—

अपने को न जान पाना है—
निजत्व की गलत झुगझुगी बजाना है—
अस्तित्व को नकार जाना है—
डींग से डकार जाना है—
शून्य के संस्कार अपनाना है।

20-10-1981

आरपार खोजते रहे

आरपार खोजते रहे
खोजते-खोजते
एक-दूसरे के होते रहे
होते-होते
बिना हुए
एक दूसरे के होते रहे

आरपार देखते रहे
देखते-देखते
एक-दूसरे को भेंटते रहे
भेंटते-भेंटते
बिना भेंटे
एक-दूसरे को भेंटते रहे।

21-10-1981

पानी पी गई नहर

पानी पी गई नहर—
प्यास से सूखी नहर

ताकता रहा खेतों का
विषण्ण प्रसार
आसपास का
धूपखाया संसार

देह की तृप्ति
पानी से हुई
मिट्टी की गंध
नहर की नेकनामी हुई

आसमान से
उड़ आये जमीन पर पखेरू
चोंच और पंजों से पानी खोजते
नहर का कीचड़
खरोचते हैं

जीभ लटकाये
व्याकुल बिलार और
सियार
रह गये प्यासे
बिना पाये
पानी का प्यार

तपातप तापित है
दर्पित दिवाकर के कोप से
आतंकित भूगोल
और खगोल।

21-9-1982

लीला के बाद

लीला के बाद,
रामलीला के राम
जंगली जनतंत्र में
रावण का रोल अदा करते हैं
दूसरों की सम्पदा हरते हैं

न नय से डरते,
न अनय से बचते हैं
जहाँ देखो तहाँ
एक नई लंका रचते हैं।

6-10-1982

गिर रहे हैं

गिर रहे हैं—

गिर रहे हैं

पत्ते

पटापट पटापट—

नये और पुराने

नन्हे—नादान और सयाने;

हरे,

ताँबिया,

पीले,

चरें और मुलायम,

खड़े

पेड़ों से,

गाँव के भीतर—बाहर

कुएँ के पास—

घर के पास,

मदरसे के इर्द-गिर्द

मंदिर के गुम्बद पर

मस्जिद की पीठ पर

गिर रहे हैं

गिर रहे हैं

पत्ते।

न रुक रहे—
न टिक रहे—
गिर रहे—
उड़ रहे
पत्ते,
हवा के हाँके—
हड़काये।

बच्चे,
उमर के कच्चे
धुन के पक्के
जुम्मन,
जोखू,
चक्खन, मक्खन,
नाटे
ठिंगने
दुबले—पतले
नकबहे
नादान
मन के मौजी,
मस्त,
नंग—धड़ंग
देह उघारे
गमछा धारे

गदबद-

गदबद,
हँसते-हँसते
मूँड़-मुड़ाये
झबरे झबरे बाल रखाये
काले,
गोरे,
सुधड़-साँवरे,
साथ-दौड़ते
लहरें लेते
धकते देते
धकके खाते
पकड़ रहे उड़ते पत्ते को,
भर भर मुट्ठी
अपने ऊपर
सब के ऊपर
फेंक रहे हैं
फेंक रहे हैं-पकड़े पत्ते;
खेल अनोखा
खेल रहे हैं
रीझ रहे हैं
सीझ रहे हैं
सुख के स्वेद
पसीज रहे हैं।

12-12-1982

हाँक के हाँके हम

हाँक के हाँके हम,
जमीन में जीते हैं हम
जीने का धोखा
आरंकित—
हाँफते-काँपते हम
संविधान की शरण में
धूल फाँकते हैं—
मौत की दूरी नापते हम।

20-12-1982

प्यार के पंख

प्यार के पंख
अब
दूर की उड़ान नहीं भरते

देह में लगे
इंद्रियों की
हिफाजत करते हैं

निर्भय
और निःशंक रखते हैं,
प्राण की सेवा में
समर्पित रहते हैं।

7-6-1985

जी कहता है

जी कहता है
इस दुनिया को सत्य समझकर
जी भर इसे जियो,

इसके नखरे—
इसकी रूठन—
इसकी तेजी—
इसकी गर्मी—
इसकी धधकन—
इसकी तड़पन—
इसकी विमुखन—
असहनीय हों चाहे जितनी,
इसको परम उदार समझकर
जी भर इसे जियो,
इससे कभी न मुँह मोड़ो;
जोड़ो तो, बस, गहरा नाता इससे जोड़ो;

छोड़ो

परम अलौकिक छोड़ो,
लेकिन इसको कभी न छोड़ो,
जी कहता है
इसे प्यार दो प्रिया समझकर,
प्यार प्यार से इसे जियो,
जी भर इसे जियो।

10-6-1985

न कुछ होकर

न कुछ होकर भी आदमी
प्रभुत्व का
मुखौटा लगाये,
मान-सम्मान की
कुरसी हथियाये,
पद-भार से
भारती को
दर्प से दबाये,
सच को बौराये,
स्वामित्व की सुविधा को
वैधानिक बनाये
अस्तित्व का आश्वासन बाँटता,
मोमी मोतियों की
मालाएँ पोहता है,
सिद्धि और प्रसिद्धि के
स्वरारोह में
औपनिषदिक
प्रवचन सुनाता है;
'सर्वे भवन्ति सुखिनः
सर्वे सन्त निरामयः'

3-10-1982

उड़ उड़ जाता

उड़ उड़ जाता
सुख का सुगना
नहीं पकड़ में आता,
चाहे जितना करो प्रयास—
चाहे जितनी भरो उसाँस,

हरे-हरे वृक्षों का नीड़-निवासी
गेही नहीं—
नहीं संन्यासी;
मुक्त गगन के
नील-श्याम का बेधी
सत्यान्वेषी
क्रूर काल-प्रतिषेधी,
चेतन—
भाता—
जगत-जाल में फँसने से बच जाता,

उड़ उड़ जाता
सुख का सुगना
नहीं पकड़ में आता।

13-6-1985

दुख ने मुझको

दुख ने मुझको
जब-जब तोड़ा,
मैंने
अपने टूटेपन को
कविता की ममता से जोड़ा,

जहाँ गिरा मैं,
कविताओं ने मुझे उठाया,
हम दोनों ने
वहाँ प्रात का सूर्य उगाया।

15-6-1985

उत्तरा जेठ

उत्तरा जेठ,
चढ़ा आषाढ़,
न आया बादल एक,
वही वही है
दारुण दाही
आतप का अतिरेक ।

18-6-1985

कविता दूँगा¹

कविता

दूँगा

कभी

अभी-

आज नहीं

जब

पकड़ूँगा

तभी

अभी

आज नहीं।

18-6-1985

1. डॉ अशोक त्रिपाठी के कविता माँगने पर

आया तो आषाढ़

आया तो आषाढ़
—न आया जैसे आया—
आग बुझाने वाले अनुचर
मेघ, न लाया

दहन-दाह से
धघक रही है
व्याकुल काया

पीड़ित प्यासी
दूँढ़ रही है तरु की छाया।

17-6-1985

पहुँच के पारंगत

पहुँच के पारंगत—

नाम के धनी—

कुछेक लोग

अर्थ की कामधेनु का

इच्छानुसार

भरपूर दोहन करते हैं,

उपासना से

उपास्य का वरदान पाने को,

विनम्र हुए, नत मुख,

श्रद्धालु नयनों से

निर्भ्रान्ति

वशीभूत करते हैं,

सुरानीक के मधुर संबंध-सूत्र से

हर हमेशा सधे रहते हैं,

स्वार्थ की साधना में सिद्ध हुए

धन्य धन्य

अहोभाग्य

कहते हैं,

सर्वमान्य बने रहते हैं।

12-6-1985

कोयल कुहुकी

कोयल कुहुकी

फिर-फिर कुहुकी,
रह रहकर फिर-फिर कुहुकेगी,
बिन कुहुके वह नहीं रहेगी,
चाहे जितना उत्तापित हो—
आतप से वह संतापित हो,

बीते युग में भी वह कुहुकी,
फिर-फिर कुहुकी,
कुहुक-कुहुक के उसके स्वर में
देश-काल भी फिर-फिर कुहुके,
बिन कुहुके वह नहीं रहे,
चाहे जैसी प्रकृति रही हो,
चाहे जैसी सृष्टि रही हो,

सात स्वरों की दुनिया चाहे बदले जितनी,
राग और रागिनियाँ चाहे बदलें जितनी,
लेकिन कोयल की यह कुहुकन
कभी न बदली—कभी न बदली,
वही रही है—वही रहेगी,
यह कुहुकन स्थायी स्वर है सात स्वरों का।

20-6-1985

क्या होता है सच जमीन का

क्या होता है सच जमीन का—
मुझसे पूछो,
आसमान उस चेतन सच को पा न सका है
अभी आज तक,
इसीलिए वह इस जमीन से
मिलकर उसको माँग रहा है
लेकिन उसको पा न सका है,
इसीलिए तो वह मनुष्य को
अपने घर में बुला रहा है
जो चेतन कर सके उसे भी
इस जमीन के चेतन सच से ।

20-6-1985

आँखें शाम उदास

आँखें शाम उदास,
रात उतर आई भौंहों तक,
अब ढूबी
तब ढूबी शाम

द्रवित हुआ आकाश
झलके आँसू,
टिमके तारे,
रुठ गया विश्वास।

23-6-1985

यहाँ बैठे देखता हूँ

यहाँ बैठे देखता हूँ
जहाँ तुम हो
और मैं हूँ

बिजलियों ने यह दिखाया
बादलों ने जो छिपाया।

23-6-1985

फूल जैसे कहे

फूल जैसे कहे
खिलकर
महक देकर
बात जी की

कहो तुम भी
बात जी की
गिले—
महके—
जो, मुहब्बत—प्यार की हो।

23-6-1985

चारों आँखों में हम दोनों

चारों आँखों में हम दोनों
झूल रहे हैं,
अपने जी का अपना झूला

इसके कारन
दुनिया का दुख
हम दोनों को भूला ।

23-6-1985

वे गये

वे गये

आये नये

बेतरह की चाल चल के,
दाम के दामाद बन के;
मौर धारे,
मोर के पखने पहन के

देश जलता,
वे न जलते,
तेज से दम दम दमकते,
जब जहाँ जैसा हुआ
वैसा बहकते

ठग नहीं,
पर ठगी करते,
हाय के मारे न मरते,
दीन का दुर्भाग्य बनकर वे
चहकते ।

24-6-1985

चुप रहें

चुप रहें

सरकार सोते हैं अभी,
आँख में सपने भरे हैं—
जिन्दगी से दूर हैं
बस इसी के, वास्ते मशहूर हैं

चुप रहें,
बेकार रोते हैं सभी।

26-6-1985

न थोड़ा न बहुत

न थोड़ा—

न बहुत—

जो हमने जोड़ा
विरासत में छोड़ा

वह हैं कविताएँ
शब्दों की मालाएँ
जो न टूटती हैं—
न सूखती हैं,
गले में पड़ीं
जयमाल की तरह झूलती हैं।

26-6-1985

हम रहे

हम रहे, जैसे
जिन्दगी
जीते रहे वैसे—

जमीन-आसमान को सहते ऐसे,
मरते-खपते जैसे-तैसे ।

26-6-1985

कील

कील

जो गड़ी

राह में पड़ी

छाँव में हमने
पाँव से निकाला

और फिर चले
आशीष में लिये
सूर्य का उजाला।

26-6-1985

न चारण हूँ

न चारण हूँ—न चाटुकार
न स्वार्थ—साधक साहित्यकार;
मैं हूँ एक
स्वाभिमानी कवि—वकील

बाँदा का निवासी,
गाँव से आया गाँव के संस्कार लिये;
जातीय जन—जीवन की,
भाषा स्वीकार किये

नहीं जानते मुझे राजनीतिज्ञ,
मैं नहीं रहा
उनमें से किसी का तरफदार,

न वह रहे मेरे वफादार

न मैं रहा उनका वफादार

हाँ, देश के दुख से दुखी रहता हूँ

उसी के प्रति

उसी को समर्पित रहता हूँ

काव्य में अभिव्यक्ति करता हूँ

देश के हित में जिसे

उपयुक्त समझता हूँ

देश में अच्छा होते देखकर प्रसन्न होता हूँ

बुरा होते देखकर अवसन्न होता हूँ

जहाँ कहीं दाँव-पेंच की बघार हुई

राजनीति की धार बेकार हुई

उसे निरर्थक समझकर

उपेक्षित करता हूँ

सत्य को सदैव सम्प्रेषित करता हूँ

अतिरिक्त, और जो कुछ लिखता हूँ,
उसे भी सारवान सार्थक समझकर
कलात्मक अभिरुचि से
लिखता हूँ

भाव भाषा और सिद्धान्त के प्रति
पूर्णतया कटिबद्ध दिखता हूँ।

19-6-1985

कविताओं में जो मैंने लिखा

कविताओं में जो मैंने लिखा
उसे मैंने
अपने में आप
और दूसरों के साथ जिया,
फिर उस जिये को
जीवन्त शब्दों से
सम्प्रेषित किया

वह लिखा
मेरा है उतना
दूसरों का जितना
देश-काल से निकला
वह मेरी कविताओं में पिघला,
पेड़ हों या पौधे
पवन हो या पानी
जमीन हो आसमान

आदमी हों
या उसकी गतिविधियाँ;
सब हैं इस लिखे में
सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्तियाँ;
प्राकृत सृष्टि के समक्ष
मानवीय चेतना की सृष्टियाँ।

1-7-1985

हम न बदले

हम न बदले
वही बदले
और जब हो गये उथले—
बने छल की तरह
छिछले
पार उनको कर गये हम,
प्यार पाकर जिन्दगी का
रोशनी से भर गये हम

वही बदले
हम न बदले,
आदमी होकर
नहीं वह आदमी के साथ हैं,
आदमी को साथ लेकर
हम चले

हम न बदले,
वही बदले।

6-7-1985

देव्हरनाथ अमृदाता
द्वा
रचना-संसार

